माओवादी आंदोलन : उभरते प्रश्न

नरेश भार्गव

नक्सलवाद, माओवाद या हिंसक युद्ध बनाम राज्य विरुद्ध आदिवासी बनाम सल्वा श्रुडुय बनाम वैचारिक युद्ध–सब कुछ मिलाकर भारतीय समाज या भारतीय प्रजातांत्रिक परिवेश में एक और हिंसक युद्ध–कई चेहरे हैं, जिन्हें मिलाकर परिभाषित करना कोई आसान काम नहीं है। 626 जिलों में से 231 जिलों में माओवाद है। तिरुपति से पशुपतिनाथ तक आंध्र, छत्तीसगढ़, झारखंड, ओडिसा, बिहार, पश्चिम बंगाल और साथ लगे नेपाल-माओवाद के प्रभाव में हैं। बीस हजार सैनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस व्यक्ति माओवाद की लड़ाई लड़ रहे हैं। जिस जमीन पर वे लड़ाई लड़ रहे हैं, वे उस जमीन को अच्छी तरह जानते हैं और पहचानते हैं। वे फैल रहे हैं। हो सकता है, कुछ समय बाद देश के दूसरे हिस्सों में भी उनका प्रभाव फैल जाय। जिस राज्य सशस्त्र बल से वे लड़ रहे हैं–वह ताकतवर है, मजबूत हैं-पर फिलहाल उनकी लड़ाई की जीत नहीं है। एक लंबे समय से चला आ रहा राज्य सुरक्षा बलों

और अति वामपंथी विचारधारा के लोगों के बीच का यह संघर्ष कितना और चलेगा–यह मालूम नहीं।

आज से पैंतीस साल पहले मैं बस्तर के धुर दक्षिण के जंगलों में घूम आया था। सरकारी नौकरी की बाध्यताएं थी। उस समय 'दिकू' अनजाने थे। बस्तर के खनिज संपदा का लोभ बढ़ रहा था। एक ओर पूंजीवादी दोहन की तैयारी थी, दूसरी ओर आदिवासी कल्याण कार्यक्रमों की तैयारी। बहुत दूर तक मानव शास्त्रियों लिए भी ज्ञान का खनिज भंडार मौजूद था। राजा भंजदेव पर बेदखली हो चुकी थी। आदिवासी समझ नहीं पाता था कि वह क्या करे। हां, वह अतिथियों का स्वागत सल्फी से करना नहीं भूलता था। राज्य के मंत्री एक गोंड़ राजा थे और उनकी रियासत भी छत्तीसगढ़ में थी। छत्तीसगढ़ के अधिकांश राजा गोंड़ थे। तब शायद कभी ऐसा नहीं लगता था कि माओवाद गंभीर रूप से पनपेगा। माओवाद के प्रसार की भनक शायद नेपाल में भी नहीं लगी थी। संगठन की कार्यशैली अब भी उनके विरुद्ध लड़ने वाली राज्य शक्तियों की समझ में नहीं आती। कभी-कभी लगता है कि राज्य उनकी कार्यप्रणाली के सामने असफल है। क्या माओ प्रभावित क्षेत्रों में राज्य राजनीतिक असफलता की ओर तो नहीं बढ़ रहे। भारतीय प्रजातंत्र के लिए यह बड़ा कुअवसर होगा।

आखिर हुआ क्या है? नक्सलवाद का प्रारंभ नक्सलवाड़ी के भूमिस्वामित्व के विरुद्ध आंदोलन से प्रारंभ हुआ था। आदिवासी संघर्ष पर वामपंथी विचारधारा का आवरण वहीं शुरू हुआ था। वामपंथी बुद्धिजीवी उस समय नक्सलवाद का समर्थन दबी जुबान से करते थे। पर इस दबी जुबान से बाहर चारु मजूमदार और कानु सान्याल स्पष्टतः मार्क्सवाद के सशस्त्र संघर्ष के हिमायती थे। नक्सलवाद की अपनी विचारधारा थी और वर्ग संघर्ष से सामाजिक मुक्ति को प्राप्त करने के उनके अपने विचार। यह विचित्र संयोग था कि नक्सलवाद के सामने जो राज्य था, और जिसके विरुद्ध वे संघर्ष कर रहे थे वह स्वयं मार्क्सवादी राज्य व्यवस्था थी। पश्चिम बंगाल में उपजा नक्सलवाद चीनी साम्यवादी आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त कर चुका था। यह उनके लिए क्रांति थी। ऐसी क्रांति जो जमीन का उचित बंटवारा कर –जैसा मार्क्स ने कहा था– उत्पादन के साधनों को जन के हाथों में दे देना था। अर्द्ध सामंती और अर्द्ध उपनिवेशवादी वाले भारतीय समाज में सामाजिक विद्रोहों की संभावनाएं सदैव बनी रही हैं। ऐसे परिवेश में नक्सल सोच की उपज शायद स्वाभाविक भी थी।

लेकिन एक बड़ा प्रश्न यह भी है कि आदिवासी क्षेत्र ही क्यों? क्या यह आदिवासी विद्रोह की अभिव्यक्ति है। नक्सलवाद के जंगल संथाल आदिवासी समूह से आते थे। आज जो कुछ हो रहा है उसमें भागीदार, समर्थक और क्रियाशीलता आदिवासी उपज की है। यदि यही गति रही तो क्या अन्य आदिवासी क्षेत्र भी माओवाद का समर्थन करेंगे? आदिवासी समाज के सबसे निम्न वर्ग के हैं। आदिवासी संघर्षों की गाथाएं इतिहास में विद्यमान रही हैं। छोटा नागपुर में आदिवासी स्वायत्तता के आंदोलन ब्रिटिश काल में भी थे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदिवासी बाहरी लोगों के प्रति आशंकित रहे हैं। विकास कार्यक्रमों के प्रसार के लिए जो भी अधिकारी था या कार्यकर्ता आदिवासी इलाकों में पहुंचे वे आदिवासियों के मित्र नहीं थे। कई स्थानों पर उन्होंने आदिवासियों को नाराज ही किया। जंगल के अधिकार का प्रश्न भी बार-बार उठा है। मानवशास्त्रीय आदिवासी समूहों की परिभाषा जंगलों के साथ जुड़ी हुई है। उन्हीं जंगलों से जब आदिवासी जीवन का भरण-पोषण समाप्त हो गया और उनके जंगल प्रवेश पर भी प्रतिबंध लग गया तो विस्थापित आदिवासी विद्रोही बने। मानवशास्त्री इन परिस्थितियों के प्रति पहले ही संकेत दे चुके थे। वैरियर एल्विन ने पंचशील सिद्धांत में कहा था कि आदिवासियों को उनकी संपत्ति का अधिकार मिलना चाहिए। आदिवासी के लिए सार्वजनिक संपत्ति का महत्व है–क्योंकि वहां स्रोतों का बंटवारा है। तथाकथित जंगल कानून इस बंटवारे को प्रभावित कर गए। सामूहिक संपत्ति और सामूहिक जीवन को कहीं न कहीं चोट ही लगी है। नक्सलवाद के पीछे जंगल के इस उपयोग की भूमिका भी रही है। यदि माओवाद का प्रसार आदिवासी क्षेत्र

में है तो कहीं न कहीं आदिवासी वेदनाएं और पीड़ा उसके पीछे हैं। इसी लिए नक्सलवाद का एक विकल्प आदिवासी क्षेत्रीय विकास कहा जाने लगा है। लेकिन प्रश्न यह भी है कि क्या आदिवासी क्षेत्रीय विकास नक्सलवाद या माओवाद का जबाव होगा? माओवाद बनाम विकासवाद से ऐसा लगता है कि नक्सलवाद का उदय विकास की कमी है–पर जल्दबाजी में यह निष्कर्ष पुनर्विचारणीय है।

तो क्या भारत को यह लाल सलाम है? भारत में साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित समूह बंटे हुए हैं। कोई एक थीसिस भी नहीं है। जब साम्यवादी दल का बंटवारा हुआ था तब निष्ठा और वैचारिक प्रतिबद्धताओं के प्रश्न उठे थे। रूस और चीन की प्रतिबद्धताएं आड़ें हाथों आई थीं। माओ की रणनीति चीन से आई थी। माओवाद एक प्रतीक है, या विशिष्ट कार्यप्रणाली–यह समझना अभी शेष है। नक्सलवाद द्वारा जारी किया गया साहित्य वैचारिक दृष्टि से कहीं क्रांतिकारी माओवादी विचारधारा से मेल खाता है और कहीं नहीं। क्या हम इसे मार्क्सवाद का एक और स्वरूप मानें? क्रांति कभी मतों के संदूक से नहीं होती, गोलियों से होती है–प्रजातंत्र में किसी भी क्रांति के लिए यह पुराना विचार है। माओवाद की हिंसक कार्यशैली भी उसी विचार से प्रभावित है। स्वाभाविक है कि यह संघर्ष राज्य के विरुद्ध है। वैसे भी 1967 में विकसित नक्सलवाद ने 'मार्क्सवादी-लेनिन' विचारधारा का एक नया नाम दिया था। यदि यह काम विद्रोह है तो हमें कहीं न कहीं विचारधारा के स्तर पर भी माओवाद के प्रसार को देखना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि साम्यवादी सशस्त्र विद्रोह का यह पहला उदाहरण है। स्वाधीनता के आसपास तेलांगाना आंदोलन भी साम्यवादियों द्वारा ही आयोजित था। पर दरारों के कारण वह अधिक विकसित नहीं हो सका। पश्चिम बंगाल के साम्यवादी माओवाद को किन निगाहों से देखते हैं–यह भी एक दिलचस्प पहलू है। पूंजीवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष मार्क्सवाद का प्रमुख नारा भी रहा है। नक्सलवाद का यह मार्क्सवादी-माओवादी आवरण भारतीय परिस्थितियों पर कितना प्रभावी है यह कहना कठिन है।

शायद एक प्रवृत्ति की चर्चा भी करनी जरूरी है। ग्रामीण क्षेत्रों में हर किसानी विद्रोह नक्सलवादी है? भारत के विश्लेषक और विशेष रूप में मीडिया ऐसा कहता है, और प्रायः ऐसे किसान आंदोलन उनके शहरों में नक्सलवादी आंदोलन हो जाते हैं। नक्सलवाद, माओवाद तथा धुर वामपंथी अतिवाद ऐसे शब्द हैं जो किसी भी किसान या आदिवासी आंदोलन को यह आवरण पहना सकते हैं। शायद यहां उस बात को समझने का प्रयास है जहां कोई भी प्रवृत्ति नक्सलवादी हो जाती है। स्वयं नक्सलवाद की विभिन्नताएं इतनी हैं कि कभी-कभी सही विश्लेषण करना बड़ा मुश्किल हो जाता है।

तो फिर क्या यह विकास का मुद्दा है? एक बहस जो आज की बहस है–सामान्यजन को विकास से मिलने वाला लाभ। भारत जैसे विकासशील देश में विकास का लाभ आमजन को पहुंचना चाहिए। अभी हाल में सरकार का शीर्षस्थ वर्ग यही कर रहा है कि माओवाद का जबाव विकास है। माओवाद बनाम विकास को कहना आसान है, पर इस विचार के प्रभावीकरण बिल्कुल अलग हैं। विकास की असफलताओं की चर्चा सार्वदेशिक है। यह माना जाने लगा है कि विकास के सुखद परिणाम नहीं निकले हैं। फिर माओवाद देश के कुछ हिस्सों में ही क्यों फैला? यदि विकास की असफलता माओवाद को जागृत कर सकती तो अब तक इस आंदोलन को सारे देश में फैल जाना चाहिए था। यदि माओवाद के जन्म और प्रसार में विकास कोई तथ्य है तो इसकी पड़ताल अभी शेष है। सामाजिक परिवर्तन के रिश्तों का तर्क के साथ कुछ कम जुड़ता है। यदि विकास की असफलताएं माओवाद को जन्म दे रही हैं तो सारे देश को सावधान हो जाना चाहिए।

निश्चित ही माओवाद के प्रसार के अपने कारण हैं, जो बहुमुखीय हैं। किसी एक कारण पर अपने को केंद्रित करना कठिन है। लेकिन बढ़ती हुई घटनाएं चिंतित करने वाली हैं। हिंदुस्तान टाइम्स में (2010) के कुछ आंकड़ों को देखा जा सकता है।

नक्सलवादी हिंसा की प्रवृत्तियां

	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009
घटनाओं की संख्या	1597	153	1608	1509	1565	1591	2239
नागरिक हताहतों की संख्या	410	466	524	521	460	490	586
सुरक्षा बलों के हताहतों की संख्या	105	100	153	157	236	231	317
नक्सल लोगों के हताहतों की संख्या	216	87	225	274	141	199	217

माओवाद की हिंसा दोनों ओर पसरी हुई है। पिछले दो महीने में जिस रफ्तार से पुलिस और अर्द्धसुरक्षा बलों का सफाया होना शुरू हुआ है, उससे लगने लगा है कि राज्य के विरुद्ध माओवाद का संघर्ष गंभीर है। एक छोटा कृषक विद्रोह अंततः क्रियाशीलता तथा वैचारिकी स्तर पर इतना फैल जाएगा, यह आभास नक्सलवाद के प्रारंभ में नहीं था। प्रजातांत्रिक राज्य के विरुद्ध अथवा प्रजातांत्रिक प्रतीकों के विरुद्ध यह एक बड़ा संघर्ष है। यह उन अहिंसक प्रतिरोधों से भिन्न है, जिसके आधार पर स्वाधीनता संग्राम जीता गया था। गांधी और माओवाद के बीच का अंतर यहीं स्पष्ट होता है। 1960 से पहले जहां आदिवासी किसानों की लड़ाई धनुष-तीरों और पत्थरों की थी, आज के हथियारों का प्रयोग आधुनिक हथियारों का प्रयोग है। आधुनिक हथियारों का प्रयोग आतंकवादियों सरीखा ही है। पर वैचारिक और कार्यक्षेत्र के कारण इन दोनों में अंतर है। एक ओर जहां राज्य के सशस्त्र बल वैधानिक तथा न्याय व्यवस्थाओं से जकड़े हुए हैं, माओवाद के लिए किसी प्रकार का नैतिक चारित्रिक बंधन नहीं है। राज्य बनाम माओवाद के युद्ध में यह अंतर समझा जाना चाहिए। वैसे भी नक्सलवाद और माओवाद के साथ क्या व्यवहार किया जाए–इस बारे में काफी मतभेद हैं और भ्रांतियां हैं। राजनीतिक प्रणाली भी इन आंदोलनों के साथ व्यवहार के लिए एक मत नहीं है। ऐसी दशा में मानव अधिकार के प्रश्न भी उलझ गए हैं। जिन कारणों से माओवाद का प्रसार हुआ है–वे मानव अधिकारों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अपने विचारों, कार्य तथा उद्देश्यों के लिए माओवाद की अपील उन जनों के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है, जो निम्न हैं, वंचित हैं और शक्तिहीन हैं। बौद्धिक जनों के दृष्टिकोण भी प्रायः उनकी वेदनाओं के साथ जुड़ गए हैं, बौद्धिक विचारों का समर्थन प्रत्यक्षतः माओवाद के संघर्ष का समर्थन तो नहीं करता पर वैचारिक स्तर पर प्रतिरोध की नई व्याख्याएं अवश्य प्रस्तुत करता है। यहां तक कि साम्यवादी राजनीति में भी अब माओवाद की अलग-अलग व्याख्याएं हैं। यह बात पश्चिम बंगाल में लालगढ़ घटना के माध्यम से समझी जा सकती है। माओवाद प्रभावित क्षेत्रों का चित्र प्रजातांत्रिक राज्यों के प्रतीकों के विध्वंश का चित्र है।

माओवाद के उदय ने भारतीय समाज के सामने कई प्रश्न रख दिए हैं। इन प्रश्नों के संबंध नए सामाजिक रूपांतरण, उभरती सामाजिक राजनीतिक व्यवस्थाओं, वैचारिकी द्वंद्व तथा राज्य-जन संबंधों के साथ जुड़े हुए हैं। माओवाद की समस्या जटिल भी है और गंभीर भी। इस समस्या से पार पाना भी कोई आसान कार्य नहीं है। मात्र सुरक्षा का प्रश्न भी यह नहीं है। शायद अकेले सैनिक प्रयासों से यह जीता भी नहीं जा सकता। माओवाद के लिए संघर्ष रत लोग उतने ही सैन्य प्रशिक्षित हैं, जितनी की राज्य पुलिस। राज्य और समाज को

इस सारी समस्या को बहुसोच आधार पर ही सोचना पड़ेगा। कहीं पर गैरबराबरी के संबंध में हमें गंभीरता से सोचना पड़ेगा और गैरबराबरी से उत्पन्न शोषण की व्यवस्था पर गंभीरता से विचार करना पड़ेगा। यह हमें मानना चाहिए कि विकास के प्रयत्नों में हमसे कहीं न कहीं गलतियां हुई हैं अन्यथा शांति से जी रहे आदिवासी इलाके इतने उग्र न हो जाते। विकास की पुनर्परिभाषा इसीलिए आवश्यक है। लेकिन संभवतः सबसे बड़ी आवश्यकता इन क्षेत्रों के जन हृदय को जीतने की है। आदिवासी क्षेत्रों की अपनी समस्याएं हैं—यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा और राज्य तथा मानव अधिकार के पारस्परिक संबंधों को इसी परिप्रेक्ष्य में परखना होगा।

संदर्भ

1. *घनश्याम शाह (2002) सोशल मूवमेंट एंड द स्टेट सेज, नई दिल्ली*
2. *पार्था मुखर्जी (1968) नक्सलबाड़ी आंदोलन, अप्रकाशित रयर*
3. *सेमीनार, 607, रेडस सिर्जेस*
4. *अमन टीके (2004) नेशन, सिविल सोसायटी एंड सोशल मूवमेंट, क्षेत्र नई दिल्ली*